1936G Consciousness or Cognition and knowledge

Chaitannya ya Gyan Darshan (In *Jain Darshan*, 1936 Novermber)

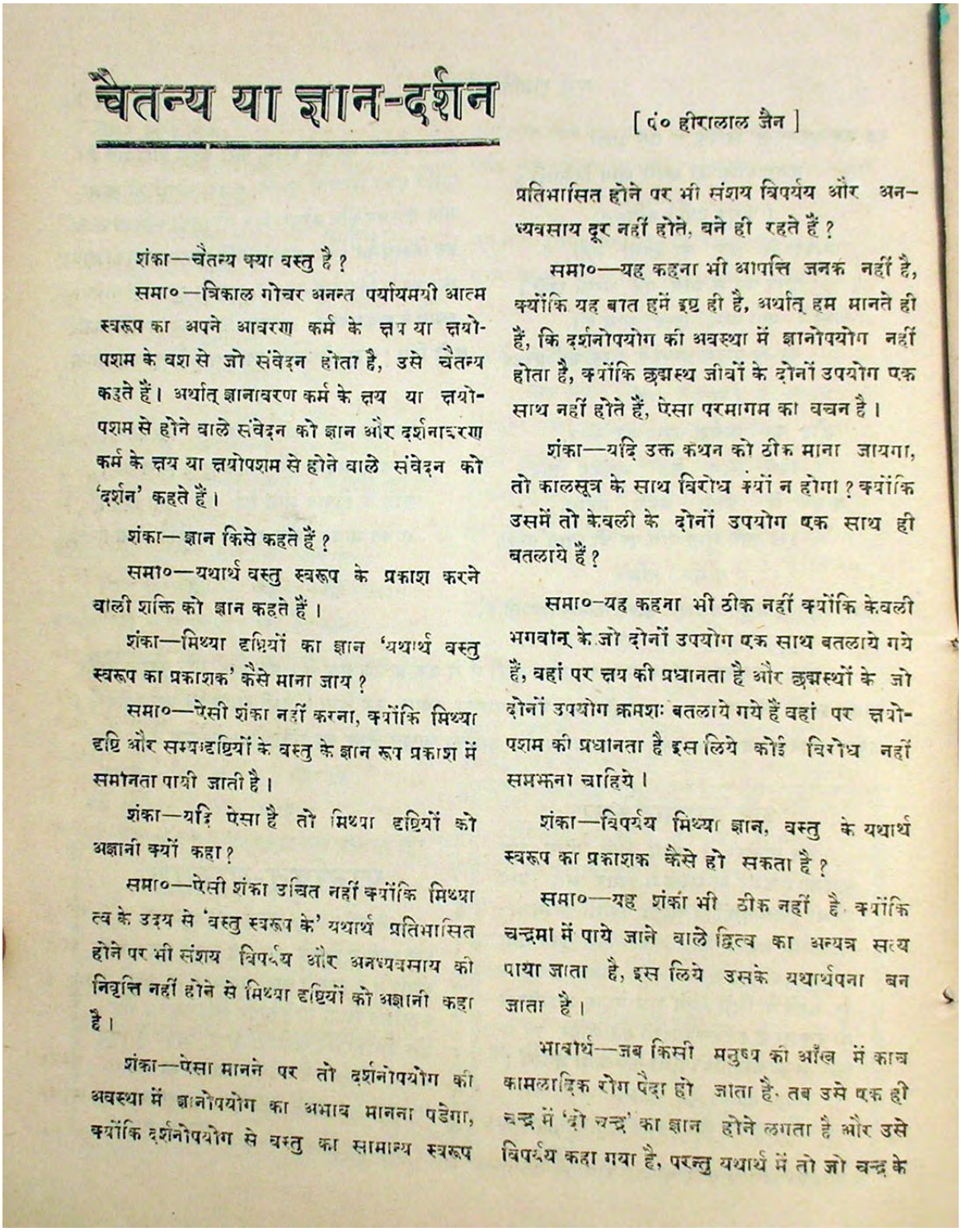

चैतन्य या ज्ञान-दर्शन

[पं० हीरालाल जैन]

शंका—चैतन्य क्या वस्तु है ?

समा०—त्रिकाल गोचर अनन्त पर्यायमयी आत्म स्वरूप का अपने आवरण कर्म के क्षय या क्षयोपशम के वश से जो संवेदन होता है, उसे चैतन्य कहते हैं। अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षय या क्षयोपशम से होने वाले संवेदन को ज्ञान और दर्शनावरण कर्म के क्षय या क्षयोपशम से होने वाले संवेदन को 'दर्शन' कहते हैं।

शंका—ज्ञान किसे कहते हैं ?

समा०—यथार्थ वस्तु स्वरूप के प्रकाश करने वाली शक्ति को ज्ञान कहते हैं।

शंका—मिथ्या दृष्टियों का ज्ञान 'यथार्थ वस्तु स्वरूप का प्रकाशक' कैसे माना जाय ?

समा०—ऐसी शंका नहीं करना, क्योंकि मिथ्या दृष्टि और सम्यग्दृष्टियों के वस्तु के ज्ञान रूप प्रकाश में समानता पायी जाती है।

शंका—यदि ऐसा है तो मिथ्या दृष्टियों को अज्ञानी क्यों कहा ?

समा०—ऐसी शंका उचित नहीं क्योंकि मिथ्यात्व के उदय से 'वस्तु स्वरूप के' यथार्थ प्रतिभासित होने पर भी संशय विपर्यय और अनध्यवसाय की निवृत्ति नहीं होने से मिथ्या दृष्टियों को अज्ञानी कहा है।

शंका—ऐसा मानने पर तो दर्शनोपयोग की अवस्था में ज्ञानोपयोग का अभाव मानना पड़ेगा, क्योंकि दर्शनोपयोग से वस्तु का सामान्य स्वरूप प्रतिभासित होने पर भी संशय विपर्यय और अनध्यवसाय दूर नहीं होते, बने ही रहते हैं ?

समा०—यह कहना भी आपत्ति जनक नहीं है, क्योंकि यह बात हमें इष्ट ही है, अर्थात् हम मानते ही हैं, कि दर्शनोपयोग की अवस्था में ज्ञानोपयोग नहीं होता है, क्योंकि छद्मस्थ जीवों के दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं, ऐसा परमागम का वचन है।

शंका—यदि उक्त कथन को ठीक माना जायगा, तो कालसूत्र के साथ विरोध क्यों न होगा ? क्योंकि उसमें तो केवली के दोनों उपयोग एक साथ ही बतलाये हैं ?

समा०—यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि केवली भगवान् के जो दोनों उपयोग एक साथ बतलाये गये हैं, वहां पर क्षय की प्रधानता है और छद्मस्थों के जो दोनों उपयोग क्रमशः बतलाये गये हैं वहां पर क्षयोपशम की प्रधानता है इस लिये कोई विरोध नहीं समझना चाहिये।

शंका—विपर्यय मिथ्या ज्ञान, वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

समा०—यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि चन्द्रमा में पाये जाने वाले द्वित्व का अन्यत्र सत्य पाया जाता है, इस लिये उसके यथार्थपना बन जाता है।

भावार्थ—जब किसी मनुष्य की आँख में काच कामलादिक रोग पैदा हो जाता है, तब उसे एक ही चन्द्र में 'दो चन्द्र' का ज्ञान होने लगता है और उसे विपर्यय कहा गया है, परन्तु यथार्थ में तो जो चन्द्र के

द्वित्वका ज्ञान हो रहा है वह संसारकी अन्य वस्तुओं में पाया ही जाता है, इस लिये 'द्वित्व के ज्ञान' को 'अभूतार्थ या असत्यार्थ' नहीं मान सकते हैं।

अथवा—सद्भाव—वस्तु स्वरूप की विद्यमानता या यथार्थता के निश्चय प्राप्त कराने वाले धर्म को ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार की व्याख्या से—संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रूप अवस्थाओं में सच्चे ज्ञानपने का अभाव प्रतिपादन कर दिया गया समझना चाहिये, क्योंकि शुद्ध नय की विवक्षामें तत्वार्थ के—वस्तु स्वरूप की यथार्थता के—उपलम्भ अर्थात प्राप्त करने वाली शक्ति को ही ज्ञान माना गया है।

इस लिये मिथ्या दृष्टि जीव 'ज्ञानी' नहीं हैं, किन्तु 'अज्ञानी' ही हैं। इस प्रकार यह बात सिद्ध हुई कि द्रव्य, गुण और पर्यायों को जिसके द्वारा जानते हैं—उसे 'ज्ञान' कहते हैं।

शंका—जब कि ज्ञान, आत्मा से भिन्न नहीं है, अभिन्न है; तब उसके 'जिस के द्वारा जानते हैं' ऐसा करण पना कैसे बन सकेगा?

समा०—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वथा भेदवाद या अभेदवाद में स्वरूप की हानि का प्रसंग आता है। अर्थात—यदि आत्मा से ज्ञान को सर्वथा भिन्न मानते हैं तो 'यह ज्ञान इस आत्मा का है' इस प्रकार का व्यवहार ही नहीं हो सकता है, फिर उसके द्वारा जानने की बात ही दूर रह जाती है। इसी प्रकार आत्मा से ज्ञान को सर्वथा अभिन्न मानने पर 'ज्ञान और आत्मा' इस प्रकार का भेद रूप कथन व्यवहार नहीं बन सकता है, या तो 'ज्ञान' ही रह जायगा, अथवा 'आत्मा' ही। सो ज्ञान तो निराधार ठहर नहीं सकता, क्योंकि वह गुण है और गुण का कोई न कोई आधार होना ही चाहिये। और जब ज्ञानका अभाव हो जायगा, तो लक्षणके अभाव से लक्ष्य रूप आत्मा का भी अभाव मानना पड़ेगा, क्यों कि लक्षण के बिना लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता। इस लिये ठीक ही कहा है कि सर्वथा भेद या अभेद मानने पर स्वरूप की ही हानि का प्रसंग आता है। अतः अनेकान्त से—ज्ञान को आत्मा से कथंचिद् भिन्न और कथंचिद् अभिन्न मानने पर ही वस्तुस्वरूप की सिद्धि होती है, जिससे कि ज्ञान के करणपना बन जाता है।

शंका—अपने से भिन्न-बाह्य पदार्थों के ज्ञान को 'प्रकाश' कहते हैं। इसलिये अन्तर्मुख और बहिर्मुख रूप प्रकाश में 'जिसके द्वारा अपने आपको और बाह्य पदार्थों को जानते हैं, वह ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार की व्याख्या से ज्ञान और दर्शन में एकता सिद्ध होती है अतः उनमें भेद नहीं मानना चाहिये।

समा०—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान के समान दर्शन से प्रतिकर्म व्यवस्था का अभाव है। अर्थात—जैसे 'अमुक ज्ञान अमुक पदार्थ को जाने, अमुक को नहीं, इस प्रकार की ज्ञान से प्रतिनियत व्यवस्था होती है, वैसी दर्शन से नहीं होती है इस लिये ज्ञान और दर्शन में एकता नहीं मानी जा सकती।

शंका—जब ऐसा है, तो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग वस्तुओंके सामान्य धर्मको ग्रहण करने वाला 'दर्शन' और विशेष धर्म को ग्रहण करने वाला 'ज्ञान' है, ऐसा मान लेना चाहिये?

समा०—ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि सामान्य विशेषात्मक वस्तु का 'बिना क्रम के' एक साथ ही उपलम्भ होता है।

शंकाकार – तो ऐसा ही मान लिया जाय—कि सामान्य विशेषात्मक वस्तु का एक साथ ही ज्ञान होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है ?

समा०—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि 'छद्मस्थों के दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं । इस परमागम—वचन के साथ विरोध आता है।

दूसरी बात यह है—कि केवल 'ज्ञान' को प्रमाण नहीं मान सकते। क्योंकि सामान्य से रहित विशेष अपनी अर्थ क्रिया करने में असमर्थ है। इस लिये केवल विशेष को ग्रहण करने का अर्थ यह होगा कि उसने अवस्तु को ही ग्रहण किया है। अतएव उसे प्रमाण नहीं कह सकते। जब सामान्य से रहित विशेष अवस्तु स्वरूप है, तब उसमें कर्ता और कर्म पना भी नहीं बन सकता है। इसी प्रकार केवल 'दर्शन' को भी प्रमाण नहीं मान सकते हैं।

शंका—यदि ऐसा है तो प्रमाण का अभाव ही क्यों न मान लिया जाय ?

समा०—ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि प्रमाण के अभाव में प्रमाता, प्रमेय आदि सभी तत्वों का अभाव हो जायगा।

शंका—तो सब का ही अभाव मान लिया जाय, क्या हानि है ?

समा०– ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रमाण, प्रमेय आदि चारों ही तत्वों का अभाव देखने में नहीं आता है प्रत्युत उनका सद्भाव ही दृष्टि गोचर होता है।

इस प्रकार यह बात सिद्ध हुई कि सामान्य विशेषात्मक बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने को ज्ञान कहते हैं' और "सामान्य विशेषात्मक स्व अर्थात् आत्माके स्वरूपके ग्रहण करनेको 'दर्शन' कहते हैं।"

शंका— उक्त प्रकार से ज्ञान और दर्शन का स्वरूप मानने पर तो जो सामान्य रूप से ग्रहण करना है, वह दर्शन है, इस वचन के साथ विरोध आवेगा।

समा०—इस कथन के साथ कोई विरोध नहीं है, क्योंकि उक्त वचन में आत्मा सकल बाहरी पदार्थों में साधारण रूप से पाई जाती है, इस लिये सामान्य पद से उसकाही ग्रहण किया गया समझना चाहिये।

शंका—आपके इस कथन का निश्चय कैसे किया जाय ?

समा०—यह शंका भी ठीक नहीं, क्योंकि 'पदार्थों के आकार को ग्रहण नहीं करके' इस वचन से उक्त कथन की पुष्टि होती है।

इसका और भी खुलासा करते हैं भावों के अर्थात् बाहरी पदार्थों के आकार रूप प्रति कर्म व्यवस्था को नहीं करके जो सामान्य को ग्रहण करना है सो दर्शन है। इसी अर्थ की पुष्टि के लिये गाथा सूत्र में आगे का पद पढ़ा गया है कि पदार्थों की यह अमुक पदार्थ है ऐसी विशेषता न करके जो ग्रहण करना सो दर्शन है।

शंका—तो क्या बाहरी पदार्थों में रहने वाले सामान्य को ग्रहण करना "दर्शन" है ?

समा०—ऐसी भी आशंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि बाह्य पदार्थों में रहने वाला और विशेष की अपेक्षा से रहित—सामान्य तो अवस्तु है और अवस्तु के कर्मपना बन नहीं सकता है । इसी प्रकार सामान्य के बिना विशेष भी प्रस्तुपने को प्राप्त नहीं होता है अर्थात ग्रहण नहीं किया जा सकता है। क्योंकि न्याय का सिद्धांत है कि सामान्य रहित विशेष और विशेष रहित सामान्य गधे के सींग के तुल्य अवस्तु हुआ करता है। यदि अवस्तु को भी

ज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य माना जायगा, तो अति प्रसंग दोष आवेगा—अर्थात फिर तो सभी वस्तुयें ग्रहण करने योग्य हो जांयगी—गधे का सींग आकाश के फूल और बांझ के सपूत भी ज्ञान गोचर होने लगेंगे।

शंका—आपके ऐसा लक्षण बनाने पर तो अनध्यवसाय नाम का जो अज्ञान है उसे भी दर्शन मानना पड़ेगा, क्योंकि अनध्यवसाय में ही वस्तु के विशेष आकार का ग्रहण नहीं होता है।

समा०-यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि—यद्यपि दर्शन में बाहरी पदार्थोंका अनध्यवसाय अर्थात निश्चय नहीं होता है, तो भी स्व-अध्यवसाय-अपना निश्चय तो होता ही है, इस लिये 'दर्शन' को प्रमाण रूप ही मानना चाहिये क्योंकि वह अविसंवादी है। अर्थात अपने विषयभूत 'स्व-रूप' (सामान्य) के ग्रहण में उसके कोई विसंवाद या अनिश्चय नहीं है। और अनध्यवसाय मिथ्या ज्ञान में जो सामान्य प्रतिभास होता है, यह कभी तो सत्य होने से प्रमाण रूप भी हो जाता है। और कभी आगामी असत्य साबित होने से अप्रमाण रूप भी हो जाता है, क्योंकि उसके ग्रहण में विसंवाद और अविसंवाद दोनों ही पाये जाते हैं।

अथवा—'आलोकन-वृत्ति' को दर्शन कहते हैं। अब इसकी शब्दार्थ रूप गमनिका कहते हैं—जो देखा जाता है, उसे आलोकन या आत्मा कहते हैं। 'वर्तन' अर्थात अनुभवन को वृत्ति कहते हैं। आलोक (आत्मा) की वृत्ति (अनुभव) को आलोकन वृत्ति या 'स्व-संवेदन' कहते हैं।

इस प्रकार यह सारांश निकलता है कि स्व-संवेदन या आत्मानुभवन का नाम 'दर्शन' है।

अथवा—'प्रकाश-वृत्ति' को दर्शन कहते हैं। इस की गमनिका—शब्दार्थ रूप व्याख्या इस प्रकार है।

'प्रकाश' ज्ञान को कहते हैं। ज्ञान के लिये जो आत्मा की प्रवृत्ति अर्थात अनुभूति होती है उसे 'दर्शन' कहते हैं। विषय पदार्थ का नाम है, विषयी पदार्थको ग्रहण करने वालेको कहते हैं; 'संपात' योग्य स्थान पर मिलाप का नाम है। इस प्रकार यह अर्थ निकलता है कि—पदार्थ और ज्ञान के योग्य स्थान में संयोग होने से पूर्व में होने वाली अवस्था 'दर्शन' कहलाती है और उससे पीछे ही वस्तु के निर्णय करने रूप विशेष अवस्था को ज्ञान कहते हैं।

उक्त प्रकार के ज्ञान और दर्शन रूप शक्ति पिण्ड को 'चैतन्य' कहते हैं। यही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है। उसे ही जानने के लिये योगी सदा योग और ध्यान में तत्पर रहते हैं, ज्ञानी -शास्त्राभ्यास में लीन रहते हैं और जिज्ञासु लोग तत्व-चर्चा में।

उस परम शुद्ध चैतन्य को मेरा नमस्कार हो।

(श्री धवल के आधार पर)